

संपादकीय

वर्तमान और भविष्य में मानव तथा पर्यावरण इन दोनों के बीच अंतर संबंधों और परस्पर निर्भरता को पुनः परिभाषित करने की महती आवश्यकता है। मानव संस्कृति पर ही नहीं बल्कि मनुष्य जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रकृति तथा पर्यावरण के प्रभाव को आसानी से देखा समझा जा सकता है। अंतहीन तपते रेगिस्तानों के घुमंतू समुदाय, निरंतर स्थान परिवर्तन की आवश्यकता के कारण तंबुओं में रहते थे। उनकी वेशभूषा, खानपान, रहन-सहन, आपसी संबंध, सामाजिक मूल्य, जीवन शैली, बोली-भाषा इत्यादि संश्लिष्ट होकर एक नितान्त पृथक संस्कृति के रूप में विकसित हुई। ऐसा ही हम आर्कटिक क्षेत्र में भी पाते हैं जहां बर्फ के अलावा न कुछ दिखाई देता है और न कुछ मिलता है, उनकी संस्कृति, जीवन शैली अन्य समुदायों से नितान्त अलग है। यहां यह भी गौरतलब है कि, समान प्राकृतिक पर्यावरणीय वातावरण में रहने वाली समुदायों की संस्कृतियों में भी जबरदस्त विभिन्नताएं पाई जाती हैं जैसे कि दक्षिण अफ्रीका की बुशमैन और हॉटेनटाट तथा अन्य समूह सदियों से समान परिस्थितियों में ही रहते आए हैं पर उनकी संस्कृतियां बिल्कुल अलग-अलग हैं। इतिहास गवाही देता है कि पर्यावरणीय परिवर्तनों का मनुष्य जीवन तथा उनकी संस्कृति पर बहुत गंभीर प्रभाव पड़ा है। आर्थिक परिवर्तनों ने भी मानव संस्कृति व सामाजिक संरचना पर गंभीर प्रभाव डाला है चाहे वह यूरोपीय औद्योगिक क्रांति के सह उत्पाद मैनचेस्टर के शोषित, वंचित कपड़ा मजदूरों का समुदाय हो अथवा तत्कालीन शिकागो का नारकीय जीवन जीने को मजबूर औद्योगिक मजदूर वर्ग। इसी तरह अरब के रेगिस्तानों के घुमंतू समुदाय को जब तेल का अथाह भंडार मिला और पेट्रो डालर की बरसात चालू हुई तो देखते ही देखते चंद दशकों में ही उनकी संपूर्ण जीवन शैली तथा संस्कृति आमूलचूल परिवर्तित हो गई।



मेरी कला में कविता और संगीत दोनों है

युवा उभरते कलाकार **पुरुषोत्तम टेकाम** से **कुसुमलता सिंह** की बातचीत

यह कोई प्रश्न नहीं बस आपकी कला के बारे में जानने की इच्छा है? कुछ बताएं?

उ. देखिए मेरी पहले चित्र कला में ऐसी रुचि नहीं थी जैसी हमारे घर-परिवार के कलाकरों में शुरू से रही है। मेरी बहन अनसुइया बहुत अच्छी गोंड कलाकार हैं। मैंने सबको चित्र बनाते देखकर ही शुरू किया और धीरे-धीरे इसमें ऐसा मन रमा कि अब यही अच्छा लगता है। मेरा अधिकतर काम घरों, मंदिरों, स्कूलों और कोठियों के गलियारों की दीवारों पर रहा है। कागज-कपड़े के कैनवस पर तो बहुत बाद में चित्र बनाना शुरू किया। पर मैडम जी, जब चित्र बनाना शुरू करता हूं और जबतक उसे पूरा नहीं कर लेता तब तक लगता ही नहीं कि मैं कोई अलग व्यक्ति हूं बस लगता है उसी चित्र का हिस्सा हो गया हूं। हम आदिवासियों के कला चित्र हमारी परंपरा और हमारी लोक कथाओं पर आधारित होते हैं। मैं अपने पिताजी से गोंड आदिवासी कहानियां सुनता हूं फिर उन कहानियों पर ही चित्र बनाता हूं। हमलोगों की कथा-कहानी भी यर्थाथ से उपजती है। उसमें कोई एक के बाद एक का सिलसिला जैसी कोई चीज नहीं होती। इसलिए हमारी चित्रकला भी वैसे ही जंगल-पहाड़ से होती हुई हवा-पानी के साथ चलती है। इसलिए लोगों को अटपटी भी लगती होगी पर उसमें प्रकृति का खरापन, तीज-त्यौहार, सामाजिक प्रसंग सब मिलते हैं।

आपने कहा कि आप चित्र अपने पिताजी के द्वारा बताई कहानियों पर

बनाते हैं?

उ. हमारी संस्कृति और गोंड का समय आदिम है। तब कोई लिखाई-पढ़ाई तो हुई नहीं कि लिखी-पढ़ी वही कहानियां दोहराई जाएं। वाचिक परंपरा में स्मृतियों में जंगल-जीवन की अनुभूतियां रची-बसी हैं बस वही पिताजी सुनाते हैं और हम चित्र में उतारने की कोशिश करते हैं। हम यहां गांव में रहते हैं। हमारे यहां तो एक नीम की डाली काटने से भी परहेज होता है और आप लोग तो शहर में हैं जहां बड़े-बड़े पेड़ भी कट जाते हैं तो हमारी कहानियां भी गांव वाला भाव लेकर चलती हैं और वही चित्र भी। हमारे यहां तो पत्थर में देव, पेड़ में देवी, गोशाला में गोरइया, वन में वनसत्ती हैं तो वही हमारे आदिवासी चित्रों में भी हैं। हम तो भित्ति पर कला करते हैं। हमारे यहां कितने त्यौहार ऐसे हैं जिनमें चित्र बनाए जाते हैं।

आपको कौन सा रंग सबसे ज्यादा पसंद है?

उ. हमको सबसे ज्यादा पीला पसंद है। क्योंकि वह रौनक को बढ़ा देता है। आसमानी रंग भी अच्छा लगता है। हम रंगों का मेल करके कई रंग बना लेते हैं। हमने खजुराहों में जो चित्र बनाए हैं उसमें आप रंगों का मेल देख सकती हैं। चटख, मद्धिम सब तरह के।

आपका जीवनयापन चित्रकला से हो जाता है?

उ. अब हमने जब इसे करना



पुरुषोत्तम टेकाम

पता- ग्राम एवं पोस्ट-पाटनगढ़,
जिला-डिंडोरी, म.प्र. 767025
मो. 091113-42517



कुसुमलता सिंह

प्रबंध संपादक 'ककसाड़'
मो. 099682-88050

शुरू किया तब यह सब नहीं सोचा था। परिवार है उसे भी देखना है। थोड़ी खेती है उससे भी गुजारा कर लेते हैं। हमें जहां बुलाया जाता है वहां पर कुछ चित्र बिक जाते हैं। अभी तक कोलकता, पुणे, खजुराहो, बिलासपुर आदि जगहों पर गया हूं। दिल्ली चित्र बनाने के लिए नहीं गया हूं किसी ने बुलाया ही नहीं। ट्रिफेड भोपाल से बुलावा आया है तो अगले महीने वहां जाऊंगा। सब मिला-जुला कर खर्च चल जाता है।

आदिवासी कलाओं के चित्र मंहगे बिकते हैं इसलिए आम लोग खरीद नहीं पाते।

उ. हम आदिवासी लोग कम से कम में भी रहने की कला जानते हैं पर हमारी कला में जो रंग, मेहनत और समय लगता है उसका दाम न सही, सम्मान तो मिले। किसी कला का सम्मान उसका पारखी ही कर सकता है तो वही खरीदेगा जो खरीदने की रुचि रखता होगा। तो शौक के लिए कुछ खर्चा तो करना चाहिए। लोक कलाओं को बचाने का यह भी तो एक तरीका है। आप लोगों से ज्यादा कौन इस बात को जानेगा।